उदारता और महानता की प्रतिमूर्ति—

महारानी अहिल्याबाई

उज्ज्वल मन और उन्नत आत्मा की चमक मनुष्य के व्यक्तित्व में अवश्य परिलक्षित होती है, जिसको बुद्धिमान् व्यक्ति एक झलक में ही परख लेते हैं। इसीलिए मुख को अंतर का दर्पण कहा गया है।

इसी प्रकार के अपने आलोकित व्यक्तित्व और गुण-गरिमा के कारण अहिल्याबाई एक दिन इंदौर की महारानी बनी। किंतु महारानी बनकर भी अहिल्याबाई ने सेवा, सौम्यता, सरलता और सादगी की अपनी विशेषताओं का परित्याग नहीं किया। स्थिति अथवा अवस्था के बदल जाने पर, जो व्यक्ति अपनी उन्नति के मूल आधारों का त्याग कर देता है, अंततः उसे पतन के गर्त में गिरना होता है। अतएव बुद्धिमान् व्यक्ति अपने उन मूल गुणों को, प्रतिकूल परिस्थितियों में भी नहीं छोड़ते और बड़े से बड़ा मूल्य चुका कर, दृढ़ता, धैर्य और साहस के साथ उनकी रक्षा करते हैं।

अहिल्याबाई का जन्म १७३५ में महाराष्ट्र के पाथडरी नामक एक छोटे से गाँव में हुआ था। उनके पिता का नाम मनकोजी सिंधिया था। मनकोजी एक सामान्य व्यक्ति ही नहीं बल्कि गरीब आदमी थे। थोड़ी-सी भूमि, दो बैल और एक हल के बल पर उनकी नौका एक तरह से सूखे में चली जा रही थी। मनकोजी सच्चाई के साथ पूरा परिश्रम करते थे। जो कुछ पैदा हो जाता था उसी में संतोषपूर्वक अपनी गुज़र-बसर करते हुए प्रसन्न रहा करते थे। नित्य-प्रति भगवान् की पूजा-अर्चा करना उनके जीवन का एक अंग था। इसी उपासना की दिनचर्या ने उनको और उनके परिवार को संसार के सारे विकारों और माया-मोहों से बचाए रखा। घोर गरीबी में उनकी पवित्र जीवनधारा प्रसन्नतापूर्वक बही चली जा रही थी। उन्हें न तो कभी अभाव सताता था और न वे कभी लोभ से प्रभावित होते थे। उनके इसी शारीरिक तथा मानसिक तप के फलस्वरूप

उनकी एकमात्र संतान अहिल्याबाई परमात्मा के कृपा-प्रसाद के समान सिद्ध हुई।

अहिल्याबाई न तो अपूर्व सुंदरी थी और न आकर्षक कलावती। वह एक सीधी, सरल और भोली-सी ग्रामीण कन्या थी। स्वभाव की नैसर्गिक सरलता तो उन्हें अपनी उस संतोष वृत्ति से मिली थी, जिसका विकास कर लेने से बाहरी परिस्थितियों में गरीब होते हुए भी मनुष्य अंदर से बड़ा ही संपन्न और परिपूर्ण बना रहता है। अभाव तथा आवश्यकताएँ अधिकांशतः मनुष्य की चपल वृत्तियों की उपज होती हैं, लोभ जिनमें उर्वरक का काम करके उन्हें विकृत ही नहीं कलंकित भी बना देता है। ऐसे चपलवृत्ति के लोग अकारण ही अपने को निर्धन तथा अभावग्रस्त अनुभव किया करते हैं। वे जब भी किसी को नूतन प्राप्ति में देखते हैं, उनका हृदय तड़पकर कह उठता है—हाय, ये वस्तुएँ हमारे पास नहीं हैं। यह व्यक्ति हमसे अधिक संपन्न तथा सुखी है। इतना ही क्यों, बहुत बार तो वे अपनी उपलब्धियों को भी न्यूनता की दृष्टि से देखते हुए अपने को हठात् निर्धन तथा अभावग्रस्त अनुभव करते रहते हैं। ऐसे लोलुप तथा लिप्सालु व्यक्ति की स्थायी आवश्यकताएँ तो कम नहीं ही होती हैं, साथ ही उन्हें नित्य नई, कृत्रिम तथा अनावश्यक आवश्यकताएँ घेरे रहती हैं। वह सदैव दुःखी तथा विपन्न ही बना रहता है। न तो उसे जीवन का आनंद मिलता है और न प्राप्तियों का सुख।

इसके विपरीत अपनी वृत्तियों में संतोष को समाहित कर लेने वाले स्थिर व्यक्ति की आवश्यकताएँ प्राकृतिक सीमा तक ही प्रतिबंधित रहती हैं। जिसके फलस्वरूप न तो उसे अभाव सताता है और न लिप्सा अथवा दयनीयता का दुर्भाव ही उसे आक्रांत कर पाता है। आवश्यकताओं की कमी स्वयं ही अपने में एक संपन्नता है। एक ऐसी संपन्नता जिसका पोषण करने के लिए न धन की आवश्यकता पड़ती है और न पदार्थों की।

भोलापन उसकी आत्मा की वह शांति थी, जो अधिक संसार लोलुप न होने से आप ही मिल जाती है। इस प्रकार आत्मा और मन के पवित्र होने से अहिल्याबाई का मन भगवान् के पूजन में बहुत लगता था। वह नित्यप्रति नियम से शिवजी के मंदिर में पूजा करने

जाती थी। कोई भी बाधा, कोई भी कठिनाई और कोई भी परिस्थिति अहिल्या को उसके इस व्रत से विरत न कर पाती थी। मूसलाधार वर्षा के समय भी वह एक स्वस्थ वल्लरी की भाँति भीगती हुई अपने पथ पर चली जाती थी और शीतकाल का हिमपात भी उसे अपने नियम से विचलित न कर पाता था। वह स्वयं ही दृढ़ निष्ठा की प्रतिमूर्ति के समान अकंपित गति से अपने नियम-निर्वाह की प्रसन्नता प्राप्त करती रहती थी। अहिल्याबाई की वह छोटी-सी पूजा ही—उसकी संलग्नता, अखंडता और ऐकांतिकता से एक विशाल तपस्या के रूप में विकसित हो गई थी। जिसकी पूर्णता ने उसमें एक ऐसे तेज की स्थापना कर दी कि वह सामान्य-सी ग्रामीण कन्या देवी-सी प्रतीत होने लगी थी। लोग उसे आदर और भक्ति-भाव से देखने लगे थे।

अहिल्याबाई की यह अटूट निष्ठा देखकर अनेक बार उसकी सहेलियाँ पूछा करती थीं—"अहिल्या ! तुम भोले बाबा की बड़ी सेवा करती हो। उनसे कौन-सा वरदान माँगना चाहती हो ?"

"मैं तो कोई भी दान-वरदान नहीं चाहती। यों ही जल-फूल चढ़ाकर चली आती हूँ।" अहिल्या उत्तर देती।

'कुछ माँगा जरूर करो'—सहेलियाँ कहतीं और उत्तर पातीं—"जब मुझे किसी वस्तु की आवश्यकता ही नहीं है, तब माँगूँ क्या ?"

और वास्तव में उस सरलता एवं संतोष की प्रतिमा को कुछ चाहिए भी न था। संतोष जिसका धन हो और पवित्रता जिसका संबल, उस भाग्यवान् को फिर आवश्यकता भी क्या रह जाती है ? उसकी संपूर्ण याचकता, अकिंचनता और अधिकता आराध्य की अमोघ भक्ति से स्थानापन्न होकर सदा के लिये संतुष्ट हो जाती है और वह एक आलोकित आत्मा के साथ आनंद से उस आध्यात्मिक अंश का आस्वादन किया करता है, जो आलोक-परलोक सभी प्रकार के सुखों का आदि स्रोत होता है।

किंतु भक्त की निष्कामना भगवान् में कामना बनकर गूँजने लगी। भगवान् की इच्छा हुई कि अहिल्या रानी बने। फिर क्या था, योग जुड़ गया। नहीं तो कहाँ एक गाँव की किसी झोंपड़ी में पलने

वाली अहिल्या और कहाँ इंदौर की गद्दी ? परमात्मा न तो अपने हाथ से किसी को कुछ देता है और न छीनता है। वह इन दोनों के लिए मनुष्यों की आंतरिक प्रेरणा द्वारा परिस्थितियाँ उत्पन्न करा देता है, आप तटस्थ भाव से मनुष्यों का उत्थान-पतन देखा करता है।

इंदौर के महाराज मल्हार राव होल्कर पूना जाते समय मार्ग में पाथडरी गाँव के उसी शिवालय में ठहरे, जिसमें अहिल्या नित्य पूजन करने आती थी।

प्रभात हुआ। पक्षियों के कलरव में कर्तव्यों की प्रेरणा मुखर हो उठी। ऊषादेवी ने प्राची दिशा में नई आशाओं और नूतन उत्साह का प्रतीक अपना केसरिया अंचल विस्तार किया। प्रातःकाल की पवित्र वायु ने प्राणों में नवस्फूर्ति का संचार किया। तालाबों में कमल और लताओं में फूल पुरुषार्थियों के भाग्य के समान खिल उठे। चारों ओर का वातावरण स्वास्थ्यपूर्ण सात्त्विकता से ओत-प्रोत हो उठा। मनुष्य जागे और उस देव-मुहुर्त में अपने नित्य-नैमित्तिकों में लग गये। निशाचर और असुर-वृत्ति के जीवों के पलक झपकने लगे और वे निभृत अंधकारों में आलसी के प्रारब्ध की भाँति जाकर सो गये।

देवदूतों की प्रभात-फेरी के समान अहिल्या पूजा करने आई। मंदिर के चारों ओर बड़ी चहल-पहल थी। हाथी, घोड़े, रथ और आदमियों की भीड़ ही भीड़ थी। किंतु अहिल्या बिना किसी ओर देखे— सत्पुरुषों के विचार की भाँति— अपने लक्ष्य मूर्ति-मंदिर की ओर, उपराम भाव से चलती गई। लोग मौन होते और मार्ग छोड़ते गये। कन्या ने नित्य की भाँति एकाग्र मन से यथावत् पूजन किया और उसी अलिप्त भाव से वापस चली गई। उस पर न तो उस भीड़-भाड़ का ही कोई प्रभाव पड़ा और न वह दुचित्ती हुई। न उसके मन में किसी प्रकार के भय अथवा संकोच का भाव आया। वह निर्विकार भाव से आई और निर्विघ्न भाव से वैसे ही चली गई जैसे निष्काम-कर्मयोगी संसार में अपना कर्तव्य पालन कर प्रस्थित हो जाते हैं। अहिल्या अपनी गति में इतनी एकाग्र आई-गई जैसे वहाँ कोई था ही नहीं। सब ओर सन्नाटा और सूनापन था। उसको सबने आते-जाते देखा, किंतु उसने जैसे किसी को नहीं देखा। यह उसकी

मानसिक पूर्णता का लक्षण था, जो आत्मस्थ एवं अचंचल व्यक्तियों में सहज ही सिद्ध हो जाता है।

महाराज मल्हार राव ने भी देखा। किंतु उनका देखना विचार क्रिया में बदल गया। वे सोचने लगे क्या संसार में ऐसा भी संभव है कि महाराजा का वैभवपूर्ण शिविर लगा हो, चारों ओर घोड़े हिनहिना रहे हों, हाथी झूम रहे हों और कोई एक, सो भी साधारण-सी ग्रामीण लड़की आये और बिना किसी प्रभाव के इतने तटस्थ भाव से चली जाए, मानो वहाँ राजा तो राजा क्या एक छोटा-सा प्राणी भी न हो। जबकि अच्छे से अच्छे स्थैर्यवान् राज-वैभव को भय और विस्मय के भाव से देखने पर विवश होते हैं और कुछ नहीं तो कम से कम राजैश्वर्य असामान्य एवं अस्वाभाविक विशेषता के कारण कौतूहल का विषय तो होता ही है। महाराज होल्कर के हृदय में अहिल्या की यह तटस्थता, तन्मयता एवं निर्भयता श्रद्धा बनकर बैठ गई। वे बेचैन हो उठे।

यह राजत्व पर सात्त्विकता की विजय थी। स्वत्व पर संतोष और अभीप्सा पर निस्पृहता की श्रेष्ठता थी। महाराज मल्हार राव का बेचैन होना स्वाभाविक ही था। जिस राज-वैभव को उन्होंने और उनके पूर्वजों ने नीति और शस्त्र दोनों के समन्वित प्रयत्न से संचय किया था और जिसके आधार पर वे एक महिमापूर्ण स्थान पर प्रतिष्ठित थे, उसका अवमूल्यन हो गया था। आज की घटना से हृदय की विशालता, गंभीरता और आत्म-गौरव की महानता में उनका विश्वास और भी बढ़ गया था और वास्तविक वैभव मनुष्य के अंतस् में निवास करता है, यह नूतन अनुभव भी उनके जीवन-चिंतन में जुड़ गया था। निःसंदेह सात्त्विक भाव ही वह उपलब्धि है, जो बिना किसी बाह्याडंबर के मनुष्य को चिरसंपन्न बनाए रखती है।

महाराज मल्हार राव ने अपनी अशांति का चिरस्थायी हल निकाल लिया। किसी की महानता से होने वाली संतप्त प्रतिक्रिया के समाधान का इससे सुंदर और कल्याणपूर्ण उपाय हो ही नहीं सकता कि उसकी महानता स्वीकार की जाए और उसे अपना बनाया या स्वयं उसका बन जाया जाए। इस प्रकार किसी की महानता का अनुबंधन अपने से भी हो जाता है। आत्मभाव की स्थापना से किसी

की वह महानता जो हीनतापूर्ण प्रतिक्रिया का कारण हो सकती है, संबंधाभिमान का हेतु बनकर संतोषदायक हो जाती है। अहंकार की पीड़ा के स्थान पर गौरव-गरिमा का अनुभव होने लगता है। इसी आध्यात्मिक लाभ के कारण ही तो 'आत्मवत् सर्वभूतेषु' का शास्त्रों में प्रतिपादन किया गया है।

महाराज मल्हार राव ने पता लगवाया और अहिल्या के पिता को बुलवाकर कहा—"सिंधिया ! मैं आपकी सुलक्षणा बेटी को अपनी पुत्र-वधू बनाना चाहता हूँ। आशा है आप मुझे निराश न करेंगे।"

महाराज इंदौर का इतना कह देना भी अधिक से अधिक था और यह एक सामान्य व्यक्ति पर महती कृपा थी, तथापि गुणवती अहिल्या का मूल्य उनकी दृष्टि में इतना हो गया था कि एक बार शंका हुई कि कहीं मनकोजी इनकार न कर दें। इसे ही तो कहते हैं—गुणज्ञता एवं गुणग्राहकता, जो किसी निरस्तेय गुणज्ञ के लिए ही संभव है। महाराज मल्हार राव एक ऐसे ही उदार गुणज्ञ थे। उन्होंने दोहराया—"क्यों सिंधिया ! क्या मेरा प्रस्ताव ...। महाराज का वाक्य पूरा भी न हो पाया था कि मनकोजी सहसा कह उठे—"नहीं, नहीं महाराज।"

मनकोजी आपे में ही न थे। महाराज की बात सुनकर उन्हें तारे दीखने लगे थे। सहसा कानों पर विश्वास ही न हुआ था। उनकी छोटी-सी जीवन-परिधि में इतना बड़ा आलोक-पुंज अप्रत्याशित रूप से चमक उठा था कि वे चकाचौंध होकर इस प्रकार विस्मय-विमूढ़ हो गए थे, जिस प्रकार कोई असिद्ध साधक अकस्मात् ही परमात्म-तेज पाकर आत्म-विभोर होकर समझ नहीं पाता कि यह क्या हो गया है ? तभी तो वे महाराज के प्रस्ताव का सहसा उत्तर न दे पाये थे ! महाराज ने उन्हें आश्वस्त किया और वे ईश्वरीय अनुग्रह से प्रकृतिस्थ तथापि आनंद-विह्वल सिद्ध के समान वापस चल दिये।

मनकोजी भागे-भागे घर आए और उन्होंने सौ सपूतों से भी अधिक मूल्यवती अपनी बेटी को करुणाग्र गौरव से देखा। अहिल्या उस समय गौ का गोबर उठाकर हाथ धोने जा रही थी। पिता ने उसके दोनों हाथ पकड़कर खुद धुलाते हुए गद्‌गद् कंठ से

कहा—"बेटा ! अब तेरे यह हाथ गोबर में कभी न सनेंगे। अब यह इंदौर की राज-सत्ता में सहायक होंगे। अहिल्या को तो अपने पिता का यह क्रिया-कथन ही नहीं समझ में आया, उसकी माता भी विस्मय के साथ यह कहती हुई आ गई कि आज आप यह क्या कर रहे हैं और क्या कह रहे हैं ?

हाँ, ठीक कह रहा हूँ। इंदौर के महाराज मल्हार राव होल्कर ने अहिल्या को अपनी पुत्र-वधू बनाने के लिए आज ही सबेरे तो मुझसे माँग लिया है; इसी याचना के लिए ही तो उन्होंने मुझे बुलाया था। अहिल्या यह सुनते ही कोठरी में भाग गई और वे दोनों उसे ऐसे देखते रहे, मानो वे अहिल्या के माता-पिता होने योग्य न थे।

माता-पिता बेटी की विदाई के विषय में कुछ बात करने ही वाले थे कि तब तक बाहर से आवाज आई, "मनकोजी ! कन्या को अभी जैसी बैठी हो भेज दीजिये, महाराज ने पड़ाव उठा दिया है।" मनकोजी ने बाहर आकर देखा—चाँदी के डंडों और जरीदार मखमली उहार की पालकी द्वार पर रक्खी हुई थी। महाराज का प्रधान-प्रबंधक खड़ा प्रतीक्षा कर रहा था। साथ में अनेक सूत और सिपाही भी थे।

अहिल्या के पास कोई और वस्त्र थे ही नहीं, बदलाये भी क्या जाते ? उसी सफेद मोटे गाढ़े की धोती में, जोकि वह पहने हुए थी, पालकी में आदर और आर्द्रतापूर्ण वातावरण में बिठा दी गई। सिसकती हुई अहिल्या को लेकर पालकी ऐसे चल दी जैसे अनासक्त कर्मयोगी की साधना उसके उत्सर्ग पुण्यों को पावन दिशा में ले जाती है और भारी हृदय से घर आकर मनकोजी ने अपने को ऐसा हल्का अनुभव किया कि मानो वे जीवन-मुक्त हो गये हों।

अरे ! मनुष्य में देवत्व के प्रतिनिधियों ! अभ्युदय के प्रत्यूष-पर्व के समान सौभाग्य के प्रतीकों ! सात्त्विकता की संतान सद्गुणों ! तुम्हारी जय हो ! तुम्हें अपनाकर जमीन का एक जर्रा भी आकाश का चाँद बन जाता है तब अहिल्या तो एक कन्या थी, पवित्र मानवी थी।

महाराज होल्कर इंदौर लौट चले। अहिल्या के आगे-आगे अपनी सवारी में वे इतने प्रसन्न, पुलकित एवं उत्साहपूर्वक जा रहे थे,

मानो दिग्विजय करके लौटे हों। राजधानी पहुँचकर मल्हार राव ने अहिल्या का विवाह अपने पुत्र खंडेराव के साथ कर दिया।

अब अहिल्या इंदौर की युवरानी बन गई थी। यद्यपि वह न तो राजपुत्री थी और न राज-घरानों से उसका कोई संपर्क ही रहा था। तथापि उसे राज-वधुत्व के निर्वाह में कोई कठिनाई नहीं हुई। उसके पास शील, शालीनता, अनुशासन, विनम्रता, गंभीरता, धीरता और आकल्पकता के ऐसे मूल गुण थे, जिनके आधार पर किसी भी समाज और किसी भी स्थिति में सफलतापूर्वक व्यवहार किया जा सकता है।

एक छोटी स्थिति से इतनी बड़ी पदवी पर आ जाने पर भी अहिल्या के हृदय में किसी प्रकार के अभिमान का अनुभव नहीं हुआ। उसने अभिमान के स्थान पर उत्तरदायित्व का ही अधिक अनुभव किया। ऐश्वर्यपूर्ण राजमहल की परिस्थितियों में पहुँचकर भी उसकी सादगी तथा सरलता में कोई अंतर न आया। बल्कि उसके आगमन से राजमहल के वातावरण में भी सात्त्विकता का समावेश हो गया।

युवरानी हो जाने पर भी स्थैर्यवती अहिल्या ने सादे वस्त्र, साधारण भोजन और सरल व्यवहार का परित्याग नहीं किया था। मनुष्य को अपनी उन्नति के आधारों का पता रहता है और जिनको पता नहीं रहता— उनकी उन्नति एक योजनाबद्ध कार्यक्रम के अनुगत नहीं होती। वह एक आकस्मिकता, संयोग अथवा घटना मात्र होती है। ऐसी अनजान उन्नति पर मनुष्य का कोई नियंत्रण नहीं रहता और वह जिस प्रकार संयोग के समान आती है वैसे ही घटना के समान बीत जाती है।

इसका कारण यह होता है कि अयोजक व्यक्ति को अपनी उन्नति के कारणों तथा आधारों का ज्ञान नहीं रहता, अस्तु वह अपनी अस्त-व्यस्तता में उनकी रक्षा नहीं कर पाता। आधार उखड़ जाने से उसकी उन्नति का भवन टूटकर गिर पड़ता है। इसके विपरीत जो कर्मयोगी अपने जीवन का विकास क्रमबद्ध योजना के अनुसार किया करते हैं, उन्हें अपनी सफलता के कारण और आधार ज्ञात रहते हैं और वे हर मूल्य पर उनकी रक्षा करके अपनी सफलता तथा उन्नति

को स्थायी बना लेते हैं। इसी को बुद्धिमत्तापूर्ण जीवन-यापन कहते हैं। यद्यपि अहिल्या ने किसी अलभ्य जीवनोन्नति के लिए उसके आधार अपने सात्त्विक गुणों का आराधन नहीं किया था, यह उसके सहज स्वभाव के ही अंग थे। तथापि जब उसे न चाहते हुए भी अप्रत्याशित रूप से उन गुणों का पुरस्कार मिल ही गया तो अवश्य ही उसने उस पर विचार किया और समझ लिया कि यह सब सम्मान उसका नहीं, उसके उन गुणों का है, जिन्हें वह अपने निश्छल तथा निर्लिप्त जीवन पद्धति के परिणामस्वरूप निसर्ग क्रम से पा सकी थीं। निदान वह अपनी उन्नति के उन आधारों के प्रति अधिकाधिक निष्ठावती हो गई और सावधानीपूर्वक उनकी रक्षा करने लगी। सावधानी अब उसके लिए अपेक्षित भी थी। एक तो वह अपने उस ग्रामीण जीवन से ठीक विपरीत परिस्थितियों तथा वातावरण में आ गई थी। जहाँ पूर्व जीवन में प्राप्त वातावरण उसके सात्त्विक तथा सरल गुणों का सहायक तथा सहयोगी था, वह वर्तमान स्थिति उनका विरोधी न सही परीक्षक अवश्य था। साथ ही अब वह अल्हड़ और निरपेक्ष जीवन क्रम से ऐसे महत्त्वपूर्ण स्थान पर आ गई थी, जिस पर रहकर मनुष्य का प्रत्येक कार्य एक अर्थ, एक प्रभाव और एक दूरगामी परिणाम रखता है। अतएव ऐसी अर्थ-द्योतक स्थिति में उदात्त उत्तरदायित्व ही संबल होता है, जिसके निरीक्षण में ही हर कदम प्रमाणिक तथा निरापद रूप से उठा सकना सहज एवं संभव होता है। अहिल्या ने वह उत्तरदायित्व धारण किया और अपने युक्त आचरण के कारण किसी को यह अवसर न दिया कि कोई उसके वर्तमान को लेकर उसके पूर्व जीवन की ओर संकेत कर सकता। गुणवती अहिल्या को अपने ग्रामत्व के साथ राजत्व का सामंजस्य कर लेते देर न लगी। जो धैर्यवान् अपने तथा अपनी प्रवृत्तियों पर नियंत्रण कर सकने के अभ्यासी होते हैं, वे किसी भी स्थिति में संतुलन बनाए रखने में सफल रहा करते हैं। उसने अपने आदि गुणों को छोड़ना तो क्या, प्रस्तुत परिवर्तन से और भी नूतन तथा महान् बना लिया।

अहिल्या के सारल्य में उसके सेवा भाव ने और भी चमत्कार पैदा कर दिया। उसने पति, सास, श्वसुर तथा अन्य गुरुजनों की सेवा इस एकाग्र मन से की कि वह सबकी प्राणप्यारी बन गई। उन्हें

ऐसा अनुभव होने लगा कि यदि अहिल्या उनके जीवन में न आई होती तो कदाचित् वे उस सुख, उस शांति और उस संतोष से अपरिचित रह जाते जो सत्संतानों से मिला करता है। अहिल्या की सेवा से द्रवित उस राजकुल का स्वाभाविक शासन का कठोर भाव बहुत कुछ विनम्र हो गया, जिसकी शीतलता उनके लिये एक नया अनुभव था। उन्होंने अपनी आत्मा में इस सत्य को स्वीकार कर लिया कि शासनजन्य अहंकार की अपेक्षा स्नेहजन्य शालीनता में अधिक सुख और गौरव है। अहिल्या ने कनिष्ठों को इतना स्नेह और सेवकों को इतनी करुणा प्रदान की कि वे सब उसकी रक्षा के लिए अधिक सजग तथा अनुशासित हो गए। स्वामियों की सौम्यता और सेवकों की अनुशासन वृद्धि से राजमहल में जिस संतुलन का समावेश हुआ, उसके कारण अब भय का नहीं मानवता का शासन स्थापित हो गया। राजमहल का आतंकपूर्ण तनाव शिथिल हो गया और सभी अपने-अपने स्थान पर एक स्वाभाविक सरलता का अनुभव करने लगे। एक दीपक के जल उठने से कक्ष की सारी वस्तुएँ अपने सहज अस्तित्व में आ जाती हैं। एक अहिल्या के आगमन से यदि राजमहल के कृत्रिम जीवन में स्वाभाविकता का समावेश हो गया तो कोई आश्चर्य की बात नहीं। एक सत्य संसार को प्रभावित कर लेता है और एक मनुष्य समाज को बदल डालता है। सात्विकता से सुशोभित गुणों में ऐसी ही अपरिमित शक्ति तथा सुंदरता होती है।

इतना सब होने पर भी अहिल्या अपने पूर्व जीवन को कभी नं भूलती थी। उसे अपनी उस गरीबी के प्रति बड़ी करुण और ममता थी। उसकी इस विगत स्मृति ने उसे गरीबों तथा अभावग्रस्त लोगों के प्रति न केवल दया ही बल्कि आदर भावना भी विकसित हो गई थी। उसे संसार के सारे गरीब अपने बंधु जैसे अनुभव होते थे और वह यथासाध्य उनकी सहायता करती रहती थी। दया और दानशीलता के गुण उसके पहले गुणों में जुड़कर स्थिर हो गये। पूजा का वह क्रम— जो उसके जीवन का एक अंग बना हुआ था, आज भी चल रहा था। आज की संपन्न स्थिति में भी उसने भगवान् की पूजा के उपकरणों में वही फूल और जल ही रखे थे। उसने उनमें

पकवान, मिष्ठान्न अथवा अन्य धन-द्योतक वस्तुओं को शामिल नहीं किया था। अब वह अपनी प्रार्थना में इतना अवश्य कहने लगी थी कि— हे भगवान् ! मैं आपकी वही अहिल्या हूँ। इस परिवर्तित स्थिति से उसे बदली हुई कोई दूसरी अहिल्या न समझें और वह शक्ति देते रहें, जिससे वह आजीवन वही सेविका बनी रहे, जो अपने विगत जीवन में थी। इस धन, इस वैभव और इस संपदा का समुचित उपयोग तो कर सकूँ, किंतु यह सब माया मुझमें भोग वृत्ति का दोष उत्पन्न न कर सके। आपने जो कुछ दिया, उसे आपका ही समझती रहूँ और आपके ही मार्ग में उसका उपयोग करती रहूँ। अहंकार, दंभ और वासनाओं के अभिशाप से बचाये रहें। मुझको ऐसी बुद्धि, ऐसा विवेक और ऐसी स्मृति दें कि मैं मानवता के सुंदर गुणों से विरत न हो सकूँ।"

अहिल्या ने अपने पूजा-उपकरणों में वैभव का समावेश नहीं किया, क्योंकि वह जानती थी कि ऐसा करने से उसके दोष से हृदय में अहंकार, संपन्नता तथा धनाढ्यता का भाव जाग सकता है। अधनता से प्रभावित भक्ति भाव में जो निर्वेद और जो अध्यात्मिक दैन्य रहा करता है वह परमात्मा की करुणा का संपादन करता हैं वह वैभव के समावेश से न रहेगा। उसकी पूजा नीरस तथा भावनाहीन होकर निष्प्रभवता के कारण हल्की हो जायेगी। धन से देवता की पूजा करने के बजाय वह उसको परमार्थ पथ में व्यय करने को अधिक उपयुक्त मानती थी। अहिल्या अपनी इस मान्यता को कार्यान्वित भी करती थी। अहिल्या को अपनी व्यक्तिगत वृत्ति राजकोष से मिलती थी, उसका बहुत बड़ा अंश तो परमार्थ एवं परोपकार में खर्च करती थी। वह भोजन करने से पहले कई भूखों को भोजन देती थी, नंगों को वस्त्र और आवश्यकताग्रस्त पात्रों को धन भी दिया करती थी। अनेक विधवाओं को सहायता और छात्रों को छात्रवृत्ति दिया करती थी। अहिल्या के इन सत्कर्मों ने न केवल अधिकाधिक तेजवती ही बना दिया था, बल्कि जनता में भी बड़ी ही श्रद्धा तथा लोकप्रियता का पात्र भी बना दिया था।

परिस्थितियों के कारण अहिल्या को विद्याध्ययन का अवसर न मिल सका था। उसकी यह इच्छा मन में ही रह गई थी। पर ज्यों ही

उसकी परिस्थितियाँ उसके अनुकूल हुईं, उसने अध्ययन का कार्यक्रम प्रारंभ कर दिया। इस प्रगति में उसे बहुत कुछ सहायता अपने पति खंडेराव से मिली। तथापि वह सहायता पर्याप्त नहीं थी, राज-काज के कारण बहुत बार खंडेराव कई-कई दिन तक अहिल्या को कुछ पढ़ा न पाते थे। अहिल्या ने अपनी यह इच्छा अपने श्वसुर पर प्रकट की। कहना था कि तत्काल अहिल्या की पढ़ाई का प्रबन्ध कर दिया गया।

जो वृद्ध महाशय अहिल्या को पढ़ाने आते थे, अहिल्या उनके प्रति बड़ा आदर का भाव रखती थी। एक छात्र के अनुशासन और विनम्रता के गुणों का वह पूरी तरह से पालन करती थी। वह अपने गुरु के सम्मुख युवराज्ञी के रूप में कभी न आती थी। गुरु के सम्मुख उसका आगमन एक सुशील छात्रा तथा शिष्या के रूप में ही होता था। उसकी इस शिष्टता ने गुरु की सारी सद्भावनाएँ प्राप्त करलीं, विद्यार्थी का अध्यवसाय और गुरु की सद्भावना जब दोनों ही अध्ययन काल में परस्पर जुड़ जाते हैं, तब अध्ययनार्थी की प्रतिभा में सरस्वती का जागरण आप से आप होने लगता है। अहिल्या के साथ भी वैसा ही हुआ। उसे रोज का पाठ रोज ही याद होने लगा और इस प्रकार वह शीघ्र ही एक अच्छी विद्यावती बन गई। शिक्षा के प्रकाश ने अहिल्या के गुण-गौरव को और चमत्कृत कर दिया। अशिक्षा के एक दोष के कारण अहिल्या का जो गुणी जीवन अभी अपूर्ण-सा दीखता था, वह जल्दी ही पूर्ण हो गया।

सेवा, उत्तरदायित्व, कर्तव्यनिष्ठा और अब शिक्षा से प्रसन्न होकर मल्हार राव ने अहिल्याबाई को राजकाज की शिक्षा भी देनी शुरू कर दी। उन्हें पुत्र की अपेक्षा अपनी पुत्र-वधु के गुणों में अधिक विश्वास था। यह एक आदरपूर्ण उपलब्धि थी, एक गहरा सम्मान था। तथापि अहिल्या में इससे भी कोई मनोविकार न आया और यथावत् सौम्य, सरल तथा शालीन बनी रही।

हल्के धरातल वाली स्त्रियाँ प्रायः पति से आगे बढ़ जाने पर ठीक तथा निरंकुश हो जाया करती हैं और पति पर शासन करने का प्रयत्न किया करती हैं। किंतु अहिल्याबाई ऐसे हल्की अथवा उथली मनोभूमि वाली नारी न थी, उसमें भारतीय ललना का आदर्श

कूट-कूट कर भरा हुआ था। वह दांपत्य जीवन में शासन भावना को पारस्परिक प्रेम के लिए कुठार समझती थी। वह जानती थी कि जो सुख, जो संतोष और जो शीतलता पारस्परिक प्रेम में होती है, वह शासन अथवा अधिकार भावना में नहीं होता। वह शासन के मद पीकर दांपत्य सौम्यता को बलिदान करने वाली नारी न थी। सेवा के सुख को अनुभव कर लेने वाली सत्नारियाँ निरंकुशता की तीक्ष्णता को कभी पसंद नहीं करती। जो सुख और सुरक्षा पति के आधीन रहने में होती है, वह उच्छृंखल, निरंकुश अथवा स्वच्छंद रहने में कहाँ ?

पति के प्रति पत्नी का संपूर्ण आत्म-समर्पण ही तो वह वशीकरण है, जो पुरुष को नारी की सुकुमार मुट्ठी में दृढ़ता से ला दिया करता है। बुद्धिमान् अहिल्या ललनाओं के इस जादू से अनभिज्ञ नहीं थी। अपनी प्रिया की महत्ता बढ़ते देखकर खंडेराव का प्रेम उस पर और बढ़ गया। वे यह सोचकर अति प्रसन्न तथा पुलकित रहने लगे कि राज्य संचालन में उनके लिए एक बहुत विश्वस्त, अभिन्न तथा अनुकूल साथी, सचिव एवं अंतरंग का निर्माण हो रहा है। सोने जैसी अहिल्या अलंकार के रूप में गढ़ी जा रही थी और उसकी अनुकूलता, उपयुक्तता एवं पात्रता भरपूर सिद्ध होती जा रही थी।

बहू हो तो अहिल्या जैसी, पर श्वसुर भी हो तो महाराज मल्हार होल्कर जैसा उदार तथा महान् ! अहिल्या को राज-काज का व्यावहारिक प्रशिक्षण के लिए, जब कभी वे किसी काम से बाहर जाते थे तो शासन सूत्र अहिल्या को सौंप जाते थे। अहिल्या इस उत्तरदायित्व को पूरी तत्परता, संलग्नता तथा सत्यता के साथ पालन करती थी। वह प्रमाद में पड़कर न तो किसी काम को कर्मचारियों पर टालती थी और न किसी काम में विलंब करती थी। जो काम जिस समय करना आवश्यक होता था, उस काम को वह उसी समय ही करती थी। उतावली अथवा विलंब को वह अपने पास भटकने न देती थी। दीर्घसूत्रता अथवा उपेक्षा उसकी सीमा से बाहर की बात थी। काम छोटा हो अथवा बड़ा, वह उसको एक जैसी तत्परता तथा लगनशीलता से किया करती थी। इसका परिणाम यह

हुआ कि वह राज-काज में आश्चर्यजनक रूप से दक्ष हो गई। उसने प्रयत्नपूर्वक आत्मोत्सुकता से राज्य के सभी विभागों के कामों को प्रायः समझ-बूझ लिया था। अहिल्या को शासन-सूत्र देकर जाने के बाद जब महाराज मल्हार राव वापस आते थे तो पाते कि अहिल्या ने सौंपा हुआ काम इतनी निपुणता से किया है, जितनी कि उन्हें आशा न थी। इस प्रकार अवसर का लाभ उठाकर और अपनी समग्र मन, बुद्धि की शक्ति लगाकर अहिल्या जल्दी ही एक कुशल प्रशासिका बन गई। श्रम एवं संलग्नता एक ऐसा आधार मूल गुण है, जो अपने को आश्रित करने वाले को ऐसा कोई काम नहीं, जिसमें कुशल न बना दे। इन गुणों के धनी लोग सेवा से लेकर शासन और शिल्प से लेकर व्यापार तक के काम को एक ही तत्परता, लगन तथा पूर्ण निष्ठा के साथ समान रूप से ही किया करते हैं, जिससे उन्हें किसी भी क्षेत्र में क्यों न डाल दिया जाए, वे उसमें सफल होकर दिखला देते हैं। अहिल्या योग्य होती गई और मल्हार राव का विश्वास अपनी पुत्र-वधू की योग्यता में दिन-दिन बढ़ता गया। अहिल्याबाई की यह प्रतिष्ठा उसकी उस कर्तव्यनिष्ठा का पुरस्कार ही समझना चाहिए, जिसका विकास उसने अपने जीवन में क्रम से नियम एवं संयमपूर्वक किया था।

विवाह के बाद अहिल्याबाई के एक पुत्र और एक पुत्री दो संतानें हुईं, जिनका नाम मालीराव और मुक्ताबाई रखा गया। इस प्रकार नौ वर्ष तक शिक्षा-दीक्षा के बीच आनंद और उत्साह के साथ जीवन बिताने के बाद अहिल्याबाई की अग्नि-परीक्षा प्रारंभ हुई। धैर्यवती अहिल्याबाई को जिस अग्नि-परीक्षा के बीच से गुजरना पड़ा, उसमें से अविचलित रहकर निकल जाना उन जैसे ही लक्ष्यवान् व्यक्तियों का काम है। अपने जीवन की अग्नि-परीक्षाओं को अहिल्याबाई ने अपने उस आत्म-विश्वास एवं आत्म-संयम के बल पर ही उत्तीर्ण किया, जिसका संचय उन्होंने सतत् उपासना के आधार पर किया था।

उपासना के माध्यम से परमात्मा के समीप रहने वाले व्यक्तियों पर जिन गुणों का अनुग्रह होता है, उनमें से धैर्य तथा सहिष्णुता मुख्य हैं। संसार में दुःखद घटनाएँ सदा संभाव्य मानी गई

हैं। वे प्रायः सभी के जीवन में आती हैं। तथापि धीर व्यक्ति उनको सामान्य घटनाओं की तरह सहकर अपनी आत्मा को प्रभावित नहीं होने देते। अहिल्याबाई में धैर्य तथा सहिष्णुता की कमी नहीं थी। निदान वे हर दुःख, हर तकलीफ और हर असंभाव्य को समान मन से सह॰ करती हुई अपने पवित्र कर्तव्य का पालन करती रही। जीवन और जगत् को ठीक से समझ लेने वाले बुद्धिमान् व्यक्ति किसी भी परिस्थिति में अपने को विचलित नहीं होने देते और ज्वाला के समान जलते हुए संयोगों के बीच से अप्रभावित हुए निकल जाते हैं।

उन दिनों मराठे भारत में हिंदू राज्य के विस्तार में लगे हुए थे और देश के लगभग सभी राजाओं से चौथ वसूल करते थे। किंतु भरतपुर के जाट राजाओं ने चौथ देने से इनकार कर दिया। इस पर पेशवा के परामर्श से मल्हार राव ने अपने पुत्र खंडेराव को साथ लेकर भरतपुर पर चढ़ाई कर दी। जाटों के साथ इस लड़ाई में खंडेराव मारे गये।

खंडेराव के खेत रहने का समाचार जब इंदौर पहुँचा तो अहिल्याबाई के शोक का ठिकाना नहीं रहा। शोकावेग में सहसा उनका धैर्य जाता रहा और वे भावातिरेक में व्याकुल होकर विलाप करने लगीं। उन्होंने सोचा कि पति के न रहने से अब उनका जीवन निरर्थक एवं निःसार हो गया है। एक पति तक ही संसार के सारे संबंध स्थिर तथा मधुर रहते हैं। पति के न रहने पर उसकी विधवा से सगे-संबंधी तक दुर्व्यवहार करने लगते हैं।

अपने दुःख का चिंतन करते-करते अहिल्याबाई को हिंदू-विधवाओं की दुर्दशा याद आ गई कि किस तरह उससे जीवन के सारे अधिकार छीन लिये जाते हैं। सब कुछ होने पर भी न तो उसे पेट भर भोजन दिया जाता है और न पूरे कपड़े। बचा-खुचा जूठा और छूटा खाकर जीवन भर तिरस्कारपूर्ण स्थिति में आयु के कठिन क्षण पूरे करने होते हैं। वह बेचारी इस दैवाघात से सारे पवित्र अनुष्ठानों तथा उत्सवों से वंचित कर दी जाती है। सभी लोग उसकी उपस्थिति, यहाँ तक कि उसका मुख देखना तक अपशकुन समझते हैं। सोचते-सोचते अहिल्याबाई निरपराध विधवाओं के लिए करुण हो

उठीं। उनके मन में आया कि समाज की यह कैसी उलटी रीति है कि जो नारी पति के न रहने से निराश्रय तथा निराश हो गई है और जो सबसे अधिक दया, करुणा, संवेदना तथा सहानुभूति की पात्र है, समाज उसी को सबसे ज्यादा ठुकराता और अवहेलित करता है। अपने तात्कालिक संस्कारों के कारण अहिल्याबाई केवल इतना ही सोच पाई। इस समस्या के हल के विषय में उनकी विचारधारा आगे न बढ़ सकी और वे पुनः घूमकर अपनी व्यक्तिगत स्थिति पर आ गईं। उन्हें अपना शेष जीवन अंधकार तथा आपदाओं से भरा दिखलाई देने लगा। उन्होंने सोचा कि अब तक जो सास-श्वसुर तथा अन्य संबंधी उसका आदर किया करते थे, वे ही अब उसे तिरस्कार की दृष्टि से देखने लगेंगे। अहिल्या का आत्माभिमान घायल हो उठा और उन्हें तिरस्कारपूर्ण जीवन की अपेक्षा मृत्यु अधिक श्रेयस्कर लगी। निदान उन्होंने पति के शव के साथ सती हो जाने का निश्चय कर लिया।

इस प्रकार विवेचना से भावना पर आते ही अहिल्याबाई का पति-प्रेम जो अब तक शोकातिरेक से स्तब्ध-सा अचेत पड़ा था, वह सहसा जाग उठा और वे विकल-विह्वल होकर रो उठीं। उनकी ममतामयी सास ने उन्हें बहुत समझाया और धीरज बँधाया। शोकावेग शांत होने से अहिल्या ने सास को सती होने का निश्चय बतलाया।

बहू का निश्चय सुनकर सास के शोक का वारापार न रहा, फिर भी वे उसके निश्चय को नारी का धर्म मानकर अधिक टीका-टिप्पणी न कर सकीं और महाराज के आने और उनकी अनुमति ले लेने का आग्रह किया।

महाराज मल्हार राव युद्ध से वापस आये। जब उन्हें अपनी प्यारी पुत्र-वधू के निश्चय का पता चला तो उनका पुत्र-शोक दो गुना हो गया। वे सांत्वना देते हुए उसे सती होने से रोकने का प्रयत्न करने लगे। बोले—

"बेटी ! तू मेरी पुत्र-वधू ही नहीं है, मेरे दूसरे बेटे के समान है। यदि तू भी मुझे छोड़कर चली जायेगी तो तेरा यह वृद्ध पिता किसके सहारे अपना शोक भूल सकेगा ? यह मानता हूँ कि पति वियोग का

दुःख असहनीय होता है और तू एक पतिव्रता पत्नी है। पति के प्रति तेरा यह प्रेम सम्माननीय है। तथापि उसकी अभिव्यक्ति आत्मघात द्वारा करना अधिक समीचीन नहीं है। पति भक्ति सती होकर आत्मघात करने में नहीं, वरन् ईश्वर प्रदत्त मानव-जीवन को अधिकाधिक उज्ज्वल एवं उत्कृष्ट बनाकर पति का गौरव एवं यश बढ़ाने में है। अहिल्याबाई को श्वसुर का तर्क एवं पूर्ण परामर्श शिरोधार्य कर सती होने का अपना निश्चय छोड़ना ही पड़ा।

श्वसुर के अनुरोध पर सती होने का निश्चय त्याग देने पर अहिल्याबाई को भावातिरेक जब प्रशमित हो गया, तब उन्हें विचार आया—"निश्चय ही मानव-जीवन एक अलभ्य अवसर है। इसको यों ही नष्ट कर डालना ईश्वर के मंतव्य से विश्वासघात करना है। यदि इसमें कोई मंतव्य न होता तो शक्तियों, गुणों और विशेषताओं से परिपूर्ण मानव अस्तित्व का कोई अर्थ ही न होता। मानव-जीवन ईश्वर की ही एक छोटी अभिव्यक्ति है। इसे नष्ट कर डालने का किसी को भी अधिकार नहीं है।"

"आत्मघात तो एक पाप है ही, साथ ही अन्य प्रकार से भी जीवन का विनाश करना एक अपराध है। जो मनुष्य अज्ञानवश विषय-वासनाओं और भोग-विलास की विभीषिकाओं में पड़कर इस मानव-जीवन का दुरुपयोग किया करते हैं, वे भी इसका विनाश ही किया करते हैं। इसके अतिरिक्त जो लोभ, मोह, क्रोध अथवा अहंकार में पड़कर ऐसे काम किया करते हैं, जिससे अन्य मनुष्यों अथवा प्राणियों को कष्ट हुआ करता है, वे भी अपने मानव-जीवन को विनष्ट ही किया करते हैं।"

"लोभ के वशीभूत होकर प्रायः लोग अपनी शारीरिक, बौद्धिक तथा व्यावहारिक शक्तियों का दुरुपयोग कर धन-संपत्ति संचय किया करते हैं। इसके लिए वे शोषण, छल, कपट और आडंबर का आश्रय लिया करते हैं। चोरी, डकैती, भ्रष्टाचार आदि न जाने कितने गर्हित उपायों को ग्रहण किया करते हैं। उनके इन लोभ प्रेरित अपकृत्यों से न जाने कितने लोगों को कष्ट, हानि और शोक सहन करना पड़ता है। इन कुपरिणामक कार्यों को करने में जीवन का दुरुपयोग करना उसको नष्ट करना ही है।"

"बहुत बार मोह में पड़कर धर्म-मार्ग का त्यागकर अधर्म-पथ पर चलने लगते हैं। शास्त्रों की अवहेलना और विद्वान्, संतों तथा महात्माओं का तिरस्कार किया करते हैं। सच्चे, युक्त और हितकर वचनों का उपहास उड़ाया करते हैं। शान-शौकत, शेखी और प्रदर्शन में धन तथा प्रवृत्तियों का दुरुपयोग करते और हास-विलास, आमोद-प्रमोद अथवा मनोरंजन में समय तथा सामर्थ्य को व्यर्थ में गँवाते रहते हैं। समाज, राष्ट्र अथवा संसार के प्रति भी उनका कुछ कर्तव्य है, इस बात पर कभी भूलकर भी विचार नहीं करते। अपने निहित स्वार्थों में लिप्त एक अंधी जिंदगी जीते रहते हैं। स्वार्थों में व्यवधान पड़ने पर शोक करते, रोते, चिल्लाते और आवेगों के वशीभूत होकर अपराधों में प्रवृत्त हो जाते हैं। इस प्रकार का जीवन चलाना भी उसे नष्ट करना ही है।"

अपनी हीन तथा निम्न वृत्तियों को तुष्ट करने के लिए लोग प्रायः अहंकार का पालन किया करते हैं। वे मद में इतने मत्त हो जाते हैं कि इस बात का विचार ही नहीं रखते कि उनके अहंकार के नीचे दबकर कितने निरपराध तथा असहाय लोगों का बलिदान हो रहा है ? यदि धन है तो उसके बल पर लोगों को खरीदकर अपने अधीनस्थ बनाने में बड़प्पन अनुभव किया करते हैं। दूसरों की उन्नति तथा प्रगति देखकर ईर्ष्या करना, वे मनुष्य का सहज स्वभाव मानते और दूसरों के विकास में बाधा डालना राजनीति माना करते हैं। अपने दंभ की तुष्टि में बड़ी से बड़ी सामाजिक, राष्ट्रीय अथवा मानवीय हानि कर डालने में किंचित संकोच नहीं करते। अपनी इस दुर्बलता पर जरा-सा आघात पाकर सर्प की तरह कुपित होकर अपना अथवा पराये का अनिष्ट कर डालने पर तत्पर हो उठते हैं। इस प्रकार का आसुरी जीवन जीना भी जीवन को विनष्ट करना ही है। मनुष्य की यह सब अमानवीय प्रवृत्तियाँ पाप के ही अंतर्गत आती हैं। जो इस लोक में तो शांति, संतोष, शीतलता, निश्चिंतता अथवा निर्भयता का सुख नहीं ही अनुभव करने देती हैं, परलोक में भी सद्गति से वंचित कर देती हैं। जिससे लोक की शांति और परलोक की सद्गति अवरुद्ध हो, वह सारी जीवन-पद्धति जीवन को नष्ट करने का अपप्रयास है, जो न तो किसी प्रकार उचित है, न इसका

अधिकार ही है और न यह उस परमपिता परमात्मा द्वारा क्षमा की जा सकती है। देर-सबेर उसका दंड मिलना निश्चित है।

परमात्मा प्रदत्त इस मानव-जीवन का सदुपयोग ही उसका सम्मान करना है। स्वार्थ का त्याग और परमार्थ का ग्रहण ही जीवन का सदुपयोग माना गया है। उपासना, सेवा और सत्कर्म ही परमार्थ-पथ के पावन प्रतीक हैं। अभाव एवं आवश्यकता पीड़ित व्यक्तियों की सहायता करना, दीन-दुःखियों, निरुपाय एवं रोगीजनों की सेवा करना, अपने धन, अपने पुरुषार्थ, अपनी शक्ति, अपनी योग्यताओं को समाज की उन्नति तथा विकास में लगाना ही जीवन का सदुपयोग करना है। संवेदना, सौहार्द्र, दया, करुणा, प्रेम तथा क्षमा भावों का अपनी आत्मा में विकास करना ही मानव-जीवन का सम्मान करना है। दूसरों की सुख-सुविधा के लिए अपने सुख का उत्सर्ग कर देना ही आदर्श जीवन कहा गया है। निराशा, निरुत्साह, शोक-संतापों से अप्रभावित रहकर अपने कर्तव्य-पथ पर निरंतर बढ़ते जाना ही जीवन का वास्तविक यापन है। संसार की सुख-शांति तथा सुंदरता बढ़ाने के लिए ही परमात्मा ने यह मानव-जीवन प्रदान किया है। इस मंतव्य में ही इसको लगाये रखना जीवन की सुरक्षा तथा सम्मान करना है। वे सारे कर्म जिनसे आत्मा का विकास हो, परमात्मा का सामीप्य प्राप्त हो और संसार का हित-साधन हो, जीवन का सदुपयोग है, जिसका फल पुण्य, पावनता और अनंत शांति के रूप में मनुष्य को मिलता है। इसके विपरीत सारे कर्म और सारे मंतव्य जीवन का दुरुपयोग है, उसको नष्ट करना है।'' इस गंभीर और यथार्थ विचार ने अहिल्याबाई की आत्मा में आध्यात्मिक प्रकाश भर दिया, जिससे उनका व्यक्तिगत शोक सार्वजनिक सेवा, करुणा तथा संवेदना के भावों में बदल गया। एक प्रकार से उनका आत्मिक, मानसिक तथा बौद्धिक कल्प-सा हो गया। जीवन के प्रति उनका दृष्टिकोण परमार्थिक प्रथाओं में बदल गया।

साध्वी अहिल्याबाई अब पुत्र और पुत्र-वधू दोनों के रूप में सास-श्वसुर की सेवा में उत्साहपूर्वक तत्पर हो गई। सेवा तो वह पहले भी करती थी, पर अब उसकी सेवा में श्रद्धा-भक्ति जैसी गंभीर भावना का समावेश हो गया था। सास-श्वसुर ने उसकी सेवा

में उस ऊष्मा का स्पष्ट अनुभव किया जो अव्यक्त आँसुओं के प्रभाव से पतिशोक का परिवर्तित स्वरूप ही था। उनकी आत्मा से अहिल्या के लिए शत-शत आशीर्वाद निकलते रहते थे।

किंतु अहिल्या की अग्निपरीक्षायें यहीं पर समाप्त नहीं हो गई थीं। कुछ समय बाद उत्तर भारत की एक मुहिम में महाराज मल्हार राव की मृत्यु हो गई। अहिल्याबाई ने श्वसुर की मृत्यु का आघात भी अपने चिर सिद्ध स्थैर्य एवं धैर्य की सहायता से सँभाल लिया। मोह की एक कड़ी और टूटने से वह अध्यात्म पथ पर एक कदम और आगे बढ़ गई। इस आघात से निराश होकर घर में पड़े रहने के स्थान पर अहिल्याबाई ने अपने पूज्य श्वसुर का प्रतिनिधित्व करके उनकी आत्मा को संतोष देने का निश्चय कर लिया। उन्होंने श्वसुर की पावन स्मृति में अनेक विधवाओं, अनाथों तथा अपंग लोगों को आश्रय दिया। मेधावी तथा प्रतिभाशाली कितने ही छात्रों के लिए छात्रवृत्तियाँ नियुक्त कीं और अनेकों निराजीविका लोगों को काम पर लगवाया। निराश्रित माताओं और उनके बच्चों के पालन-पोषण के लिए अनेक प्रकार के छोटे-मोटे काम-धंधों का प्रारंभ कर दिया। इस प्रकार उन्होंने अनेक परोपकार कार्यों द्वारा दिवंगत आत्मा का ऐसा हित साधन किया, जिससे परलोकवासी के साथ लोकवासियों का भी हित हुआ।

महाराज मल्हार राव की मृत्यु के बाद उनका धेवता माली राव गद्दी पर बैठा। किंतु वह बड़ा विलासी, क्रूर तथा स्वार्थी था। प्रजा का शोषण और उस पर अत्याचार करना उसका स्वभाव बन गया था। अहिल्याबाई को अपने पुत्र के इन कार्यों पर बड़ा दुःख होता था। उनकी हार्दिक इच्छा थी कि माली राव को गद्दी से उतारकर किसी योग्य तथा उपयुक्त व्यक्ति को राजा बनाया जाये। सच्चे सूर व्यक्ति कर्माकर्म के विषय में अपने-पराये का पक्ष-विपक्ष नहीं करते। वे लोकरंजन की दृष्टि से पराकाष्ठा तक न्याय तथा नियमशील रहा करते हैं। आत्मज होने पर भी अहिल्याबाई अपकर्मों के कारण मालीराव से असंतुष्ट थीं। प्रजा के हित में वे उसे अधिकार च्युत कर देने पर विचार कर रही थीं कि तब तक इंदौर की गद्दी खाली हो गई। केवल नौ महीने प्रजा का पीड़न करने के बाद माली राव की

मृत्यु हो गई। विषयी, विलासी और अत्याचारी का अल्पायु होना कोई अस्वाभाविक आश्चर्य का विषय नहीं है। इस प्रकार के अपपुरुष आत्मघातियों की गणना में ही आते हैं, जो किसी समय भी अपने जीवन के अकाल समापन को प्राप्त हो जाते हैं।

आगे कोई उत्तराधिकारी अथवा उपाय न होने से इंदौर की बागडोर अहिल्याबाई ने अपने हाथों में ले ली और गंगाधर नामक एक व्यक्ति को मंत्री बनाकर प्रजा की सेवा करने लगीं। किंतु अहिल्याबाई का विश्वासपात्र अभागा गंगाधर बड़ा स्वार्थी और राज्य-लोलुप निकला। अवसर न होने पर किसी का अस्वार्थी अथवा ईमानदार बना रहना कोई बड़ी बात नहीं है। विशेषता तो तब है, जब अवसर हाथ आने पर भी निःस्वार्थ तथा ईमानदार बना रहा जाये। इसी में सच्चे चरित्र और सच्ची मानवता का मूल्यांकन निहित है।

गंगाधर राव ने अहिल्याबाई को किसी बच्चे को गोद ले लेने और राज्य-सत्ता उसके अधिकार में सौंपकर भगवत्-भजन करने का परामर्श दिया। दूरदर्शिनी अहिल्याबाई वैसे तो भले ही उसके इस सद्दर्शी परामर्श को मान लेतीं, किंतु उन्होंने गंगाधर राव के परामर्श के पीछे छिपी स्वार्थपूर्ण दुरभिसंधि को पहचान लिया था। उन्होंने अपना साहस सँभाला और गंगाधर राव का प्रस्ताव कठोरतापूर्वक अस्वीकृत कर दिया। साथ ही यह भी कह दिया कि राज्य के कार्यों में जो भी व्यक्ति अपने सुयोग्य गुणों का परिचय देगा, मैं उसी को शासन सौंप दूँगी; किसी बच्चे को गोद लेने की आवश्यकता नहीं है। इस पर वह विश्वासघाती गंगाधर राव अपने चाचा रघुनाथ राव पेशवा को इंदौर पर चढ़ा लाया।

गंगाधर राव के इस विश्वासघात से अहिल्याबाई का तेज जाग उठा। उन्होंने सेनापतियों, नगरों के मुखियों तथा प्रतिनिधियों की एक सभा बुलाई और सर्वसम्मति से इंदौर की शासिका बनकर तुकोजी राव के सेनापतित्व में पेशवा रघुनाथ राव के विरुद्ध युद्ध की घोषणा कर दी। पेशवा रघुनाथ राव अहिल्याबाई का यह साहस और दृढ़ता देखकर डर गया और बिना लड़े ही वापस चला गया।

इन आकस्मिक अस्त-व्यस्तताओं के कारण राज्य में चोर-डाकुओं का बाहुल्य हो गया। उन्होंने उनका दमन करने के लिए

घोषणा कर दी कि जो व्यक्ति इन अपराधियों का दमन करेगा उसके साथ वे अपनी बेटी मुक्ताबाई का विवाह कर देंगी। अहिल्याबाई की इस घोषणा में उनकी बहुत बड़ी दूरदर्शिता एवं बुद्धिमत्ता छिपी हुई थी। उन्होंने सोच लिया था कि एक तो इस प्रकार चोर-डाकुओं का दमन हो जायेगा, दूसरे वर की योग्यता तथा वीरता की परीक्षा हो जायेगी और तीसरे बेटी के विवाह के लिए राजनीतिक-लोलुपता की संभावना समाप्त हो जायेगी। यह भी एक प्रकार से पणपूर्ण स्वयंवर का ही स्वरूप था।

निदान एक साहसी नवयुवक यशवंत राव ने डाकुओं के दमन का बीड़ा उठाया और प्राणों की बाजी लगाकर उस महान् कर्तव्य को पूरा कर दिखलाया। अपनी घोषणा के अनुसार अहिल्याबाई ने यशवंत राव के साथ मुक्ताबाई का विवाह कर दिया।

राज्य में शांति एवं व्यवस्था की स्थापना कर लेने पर अहिल्याबाई ने राज्य के सेठों, साहूकारों, व्यापारियों, शिल्पियों, कलाकारों, मजदूरों तथा अन्य आर्थिक क्षेत्र के व्यक्तियों को प्रोत्साहन दिया और व्यापार तथा शिल्पों में वृद्धि कराकर राज्य की उन्नति की। उन्होंने दूर से ईमानदार व्यापारियों को बुलाकर राज्य का व्यापार विकसित करने के लिए साधन तथा सुविधाएँ दीं। राज्य की आर्थिक दशा सुधर जाने पर अहिल्याबाई ने प्रजा के बहुत से कर हटाकर उन्हें आर्थिक उन्नति करने का अवसर दिया। विद्वानों, कवियों तथा लेखकों ने अहिल्याबाई से सहयोग पाकर अपनी-अपनी शत-शत रचनाओं द्वारा साहित्यिक भंडार की श्रीवृद्धि की। इस प्रकार पुण्यवती अहिल्या की व्यवस्था में सब ओर सुख-शांति तथा उन्नति-विकास की प्रवृत्तियाँ दृष्टिगोचर होने लगीं।

तथापि अभी उनकी अग्नि-परीक्षा समाप्त नहीं हुई थी। कुछ ही समय बाद थोड़े-थोड़े अंतर से उनकी सास, पुत्री तथा जामाता की मृत्यु हो गई और वे संसार में सर्वथा अकेली रह गईं। किंतु फिर भी अहिल्याबाई ने धैर्य न छोड़ा और अपने कर्तव्य पालन में तत्पर बनी रहीं। वे मुसीबत पर मुसीबत आने और दुःख पर दुःख देखकर भी न तो एक क्षण को आँसू बहाने बैठीं और न निष्क्रिय होकर अपने कर्तव्यों से विमुख हुईं। जिसने आत्मा को अपना मित्र बना लिया

होता है, अपने को कर्तव्य की वेदी पर समर्पित कर दिया होता है, परोपकार तथा परमार्थ को अपना ध्येय बना लिया होता है, वह अकेला रहने पर भी एकाकी नहीं रहता। पुण्य उसके सहचर होते हैं और परमात्मा उसकी रक्षा किया करता है।

विधि-विधान के वशवर्ती शासन का जो उत्तरदायित्व अहिल्याबाई पर आ गया था; यद्यपि वह असंख्यों जटिलताओं और आशंकाओं से भरा हुआ था, तथापि उन्होंने उसे उत्साह, साहस तथा आत्मविश्वास के बल पर वहन किया। उन्होंने चारों ओर से अपने आपको समेटकर प्रजा की भलाई तथा उन्नति में लगा दिया। जो शासक मन-वचन-कर्म से जनता-जनार्दन की सेवा में तत्पर रहता है, उसकी बहुत-सी राजनीतिक उलझनें आप से आप दूर होती रहती हैं। महारानी अहिल्याबाई ने प्रजा की सेवा ही अपना ध्येय बना लिया और उसी में तन, मन, धन से जुट गईं।

संसार के सत्यों तथा अध्यात्मिक विकास ने यद्यपि अहिल्याबाई को बड़ी सीमा तक विरक्त बना दिया था, तथापि वे अनासक्त भाव से अपने सारे कर्म तथा कर्तव्य करती रहीं। उन्होंने सोचा कि— यदि मैं राज्य-भार से विरत होकर केवल आत्म-साधना में लग जाती हूँ तो न जाने शासन-सूत्र कैसे हाथों में चला जाये और उस दशा में प्रजा का उत्पीड़न हो सकता है। प्रजा के उत्पीड़न की संभावना से तटस्थ होकर यदि मैं आत्म चिंतन में निरत हो जाती हूँ तो कर्तव्यहीनता का दोष मेरी आत्मा का विकास अवरुद्ध कर देगा और मैं उसी प्रकार परमार्थ लाभ की अनधिकारिणी बन जाऊँगी जिस प्रकार अपने पारिवारिक तथा सामाजिक कर्तव्योंको हठात् त्यागकर संन्यास लेने वाला व्यक्ति अथवा तपस्या के लिए वनों, पहाड़ों में चले जाने वाली पलायनवादी। अपने वर्तमान उत्तरदायित्वों को त्यागकर आत्म-साधना करने वालों को मुक्ति कदाचित् ही मिल सकती है।

इसके विपरीत जो गीता के अनुसार अनासक्त भाव से अपने कर्तव्यों का पूर्णरूपेण श्रद्धा के साथ पालन करता रहता है और ऐसा करते हुए ही उसका शरीर छूट जाता है, तब भी वह मोक्ष का

अधिकारी बन जाता है फिर चाहे उसने एकांत में बैठकर आत्म-चिंतन किया हो या नहीं।

इस प्रकार विवेकपूर्वक विचार करके महारानी अहिल्याबाई ने अपने लिए प्रवृत्ति मार्ग ही चुना। उन्होंने जनता के माध्यम से लोक-सेवा को अपना जीवन लक्ष्य बना लिया और उसी को परमार्थ साधन मानकर उसी में लग गईं। लोक-सेवा वह चाहे व्यक्तिगत रूप से की जाये अथवा किसी संस्था के माध्यम से, यदि उसका लक्ष्य आध्यात्मिक है, उसमें निहित भावना साधनावती है तो निश्चय ही यह पावन सांसारिकता ही संसार-संतरण का हेतु बन जाती है और ऐसे संसारी का हर काम परमार्थ कार्यों की सूची में अंकित कर लिया जाता है। अस्तु अहिल्याबाई लोक-चिंता में ही आत्म-चिंतन की भावना लेकर प्रवृत्ति पथ से मोक्ष मार्ग की ओर चल पड़ीं।

महारानी अहिल्याबाई ने सबसे पहले अपने पूरे राज्य का दौरा किया और उसी क्रम में जनता की आवश्यकताओं, कठिनाइयों, समस्याओं और विकृतियों का पता लगाया। उन्होंने देखा कि समाज में विधवाओं की दशा बहुत दयनीय है। पति के न रहने पर वह निराश्रिता उसकी संपत्ति से सर्वथा वंचित कर भूखों मरने के लिए छोड़ दी जाती है। महारानी अहिल्याबाई को इस व्यवस्था में अत्याचार के सिवा और कोई औचित्य दिखलाई न दिया। उन्होंने अनाथ, विधवाओं की भलाई के लिए विधवाओं के उत्तराधिकार का कानून बनाकर प्रचारित किया, जिससे भिखारिणी-सा परमुखापेक्षी जीवन बिताने वाली विधवाओं को मानवोचित जीवन के अवसर के साथ अपना विकास और समाज के लिए उपयोगी बन सकने की योग्यता प्राप्त होने लगी। एक इसी राज-नियम ने समाज में आत्म-हत्या, भ्रूण-हत्या और व्यभिचार जैसे बहुत से पापों का दमन कर दिया।

महारानी ने इसी नियम का पूरक एक नियम दत्तक पुत्र के संबंध में बनाया। इस नियम के अनुसार कोई भी किसी बच्चे को गोद लेकर अपनी संपत्ति का उत्तराधिकार उसे दे सकता था। इस विधि ने समाज में बहुत से अनाथों को सनाथ बनाया और बहुत से बेसहारे स्त्री-पुरुषों को सहारे की व्यवस्था कर दी।

विधि-विधान के अतिरिक्त महारानी अहिल्याबाई ने राज्य भर में बड़ी-बड़ी सड़कों का निर्माण कराया, जिससे यात्रा और व्यापार में अभूतपूर्व सुविधा हो गई। ऊबड़-खाबड़ और औघट घाट से यात्रा करने पर जनता को जो कष्ट और चोर-लुटेरों का भय बना रहता था, वह बहुत कुछ दूर हो गया। सीधे तथा प्रशस्त सड़कों के कारण बहुत-सा समय, श्रम, शक्ति तथा धन की बचत होने लगी, जिससे लोग उसे अन्य हितकर कार्यों में लगाने और अपने साथ समाज की उन्नति में सहायक होने लगे।

उन्होंने सड़कों के किनारे बहुत से फलों तथा छायादार वृक्ष लगवाये और स्थान-स्थान पर कुओं की व्यवस्था की। राज्य के प्रमुख तथा यात्रा योग्य स्थानों पर बहुत-सी धर्मशालाएँ और अतिथिशालाओं का निर्माण कराया, जिससे राज्य के मंत्रियों का आवागमन बढ़ गया। संस्कृतियों के सम्मिश्रण से उनका विकास, तदानुसार होने लगा।

धर्मशालाओं तथा अतिथिशालाओं के अतिरिक्त महारानी अहिल्याबाई ने जनता में धर्मभावना के प्रचार और उपासना की सुविधा के लिए बहुत से मंदिरों की स्थापना कराई। उन्होंने ये मंदिर न केवल अपने राज्य में ही बनवाए बल्कि दूर-दूर के बहुत से तीर्थों में उनका निर्माण कराया। इन्हीं मंदिरों में उन्होंने धार्मिक साहित्य के पुस्तकालय तथा वाचनालय खुलवाये और दैनिक कथा-वार्ता तथा कीर्तन की प्रथा प्रचलित कराई।

महारानी अहिल्याबाई ने राज्य भर में फूलों और फलों के इतने बाग-वाटिकाएँ लगवाईं कि उनकी संपत्ति एवं सुंदरता से ग्राम-ग्राम अलंकृत तथा संपन्न हो उठे। इतने तरह के इतने फल राज्य में पैदा होते थे कि दुष्काल में भी लोगों को भोजन की कमी न रहती थी। उन्होंने राज्य की ओर से भी और प्रजा को निर्देश करके गो-शालाओं की ऐसी प्रथा चला दी कि प्रायः घर-घर में गऊ का पालन तथा पूजन होने लगा, जिससे दूध-दही और घी की सुविधा से बच्चे भरपूर स्वास्थ्य का लाभ उठाने लगे।

इसके अतिरिक्त उन्होंने राज्य में न जाने कितने औषधालय, चिकित्सालय तथा दानशालाएँ खुलवाईं; जिनमें दीन-हीन, रोगी और

विभुक्षु लोगों को सहायता दी जाती थी। पुस्तकालय, वाचनालय और पाठशालाएँ तो महारानी अहिल्याबाई की अभिरुचि तथा जन-सेवा के प्रमुख विषय थे। उन्होंने विद्वानों, कवियों तथा शिल्पियों को राज्य की ओर से वृत्तियाँ देकर साहित्यकला तथा कौशल के विकास के लिए प्रोत्साहन दिया।

कृषक कन्या होने से महारानी अहिल्याबाई किसानों की कठिनाइयों तथा समस्याओं से पूरी तरह परिचित थीं। उन्होंने किसानों के सुधार तथा विकास के लिए भूमि की नियमित व्यवस्था की। अत्याचारी तथा शोषक जमीदारों को हटाकर उनके स्थान पर अपने प्रबंधक नियुक्त किए। पशुओं के लिए चारागाह और खाद के लिए निश्चित स्थान का नियम बनाने के साथ-साथ उन्होंने सिंचाई का समुचित प्रबंध कराया। गाँवों में आवश्यकतानुसार कच्चे-पक्के हजारों कुएँ बनवाए, रहट, ढेकुली तथा नहरों की व्यवस्था की। स्थान-स्थान पर कच्चे तथा पक्के तालाब बनवाकर भी सिंचाई तथा पीने व नहाने-धोने के लिए पानी की स्थायी व्यवस्था कराई। उन्होंने लगान की दर और फसल के भाव निश्चित किए और पशु-विकास की जो भी व्यवस्था उस समय हो सकती थी, वह की गई।

इन सब व्यवस्थाओं के साथ-साथ महारानी अहिल्याबाई ने जन-सहयोग से नगरों और गाँवों में समाज-सुधारक संस्थाओं की स्थापना कराई। यह संस्थाएँ लोगों में पारस्परिक सहयोग, सौहार्द्र तथा सामूहिकता की भावना का प्रचार किया करती थीं। इन्हीं संस्थाओं द्वारा समाज की ऐसी कुरीतियों, कुप्रथाओं तथा परंपराओं के विरुद्ध प्रचार कर जनमत परिवर्तन करने का प्रयास किया जाता था, जिनको राज्य-प्रबंध अपने अधिकार में नहीं ले सकता था।

इस शासन तथा समाज-सुधारों के साथ-साथ उन्होंने प्रशासन में भी कुछ कम सुधार नहीं किये। उन्होंने रद्दी, निकम्मे तथा अनावश्यक कल-पुर्जे प्रशासन यंत्र में से निकालकर फेंक दिए। भ्रष्टाचारी, उत्कोची, बेईमान, अयोग्य तथा विश्वासघाती राज-कर्मचारियों को न केवल निकाल बाहर ही किया, बल्कि उनको दंड भी दिया। इसके अतिरिक्त उन्होंने राज्य-पदों पर से उत्तराधिकार की प्रथा हटाकर योग्यता का प्रतिबंध लगा दिया।

उन्होंने राज्य में पदों की संख्या, उनकी प्रकृति तथा स्वरूप निश्चित किया और दस कर्मचारियों की उपलब्धि के लिए शिक्षण एवं प्रशिक्षण संस्थाएँ स्थापित कीं।

इस प्रकार लगभग साठ वर्ष तक अध्यात्म भाव से जनता-जनार्दन की सेवा और सुधार करने के बाद महारानी अहिल्याबाई पक्व अवस्था में जीवन की सार्थकता के साथ परमधाम सिधार गईं।

ये इतिहास प्रसिद्ध महारानी अहिल्याबाई एक निर्धन किसान की बेटी थीं। किंतु उन्होंने अपने गुणों के आधार पर इतनी बड़ी पदवी और प्रतिष्ठा पाई। जिन अनुकरणीय गुणों को उन्होंने एक बार ग्रहण कर लिया था, फिर जीवन भर उन्हें नहीं छोड़ा। युवरानी, राज-वधू और स्वयं महारानी हो जाने पर भी अहिल्याबाई उसी प्रकार का सामान्य भोजन करती और साधारण कपड़े पहनती रहीं जिस प्रकार का भोजन-वस्त्र अपने प्रारंभिक जीवन में उपयोग किया करती थीं। राज-वैभव, राजसुख और राजमद उन्हें वैसे ही प्रभावित न कर सके, जिस प्रकार चंदन के वृक्षों में सर्पों के लिपटे रहने से उनका विष उनमें व्याप्त नहीं होता।

कार्य भार से थककर जब महारानी अहिल्याबाई को मनोरंजन की आवश्यकता होती थी तो वे या तो विद्वानों के साथ बैठकर शास्त्रों अथवा साहित्य पर चर्चा किया करती थीं अथवा अश्वारोहण और शस्त्र-अभ्यास किया करती थीं। अपने इस मनोरंजन के क्रम में ही वे एक अच्छी साहित्य-मर्मज्ञा और कुशल अश्वारोहिणी के साथ-साथ शस्त्र-संचालिका भी बन गई थीं। राज-प्रबंध और युद्ध-संचालन की कला स्वयं महारानी अहिल्याबाई ने अपनी प्रतिभा, मर्मज्ञता तथा सूक्ष्मदृष्टि के आधार पर प्रयत्नपूर्वक सीख ली थी।

महारानी अहिल्याबाई के जीवन से जो सबसे बड़ी प्रेरणा हमको प्राप्त होती है, वह 'कर्तव्यपरायणता' की है। साधारण अर्थ में कर्तव्यपरायण व्यक्ति संसार में बहुत से मिल सकते हैं। वे सभी राज्य-कर्मचारी जो अपना कार्य ईमानदारी और मुस्तैदी से करते हैं— कर्तव्यपरायण ही हैं। जो सैनिक समर-भूमि में निर्भय चित्त से दुश्मन का सामना करता है और प्राणों पर संकट आया देखकर पीछे पैर नहीं रखता, वह भी अवश्य कर्तव्यपरायण कहा जायेगा। जो

विद्यार्थी आलस्य और प्रमाद को त्यागकर पूर्ण मनोयोग से विद्याभ्यास करता है और समस्त अनावश्यक शौकों को छोड़कर अपनी पूरी शक्ति परीक्षा में सफल होने में लगा देता है, उसे भी कर्तव्यपरायण माना जाएगा।

पर इस प्रकार की कर्तव्यपरायणता प्रायः वेतन तथा किसी भावी लाभ की आशा से उत्पन्न होती है, इसलिए उसमें कोई विशेषता नहीं मानी जाती। पर महारानी अहिल्याबाई ऐसे सर्वोच्च पद पर थीं कि उनके लिए किसी प्रकार के लाभ अथवा धन प्राप्ति की भावना कर्तव्यपरायणता की प्रेरक नहीं हो सकती थीं। संसार में तो प्रायः यह देखा जाता है कि संपत्ति तथा शक्ति की इस प्रकार प्राप्ति होने पर सभी व्यक्ति उसके उपभोग की ओर प्रेरित होते हैं। जो लोग ऐसी स्थिति में पहुँचने पर मदोन्मत्त हो जाते हैं और उचित-अनुचित का ध्यान त्यागकर केवल आमोद-प्रमोद को ही जीवन का लक्ष्य बना लेते हैं, उनकी बात तो छोड़ दीजिये, पर सज्जन और कर्तव्यनिष्ठ माने जाने वाले व्यक्ति भी अपनी पदवी और सुरुचि के अनुसार उन साधनों का उपयोग अपने सुख के लिए करते हैं और कोई उनको बुरा भी नहीं बतलाता।

महारानी अहिल्याबाई उन इने-गिने मानव-रत्नों में से थीं जो सब प्रकार के साधन सामने रहने पर और ऊपर से किसी प्रकार का प्रतिबंध न रहने पर भी उनसे इस प्रकार पृथक् बने रहते हैं— जैसे जल में कमल। इतने बड़े राज्य की एकमात्र स्वामिनी होने पर भी उसका आहार-विहार तथा वस्त्र आदि वैसे ही साधारण थे जैसे एक सामान्य राज्य-कर्मचारी के। वह जमीन पर सोती थीं और एक मामूली सूती साड़ी पहनती थीं। पर राज्य-कार्य में परिश्रम वह इतना अधिक करती थीं कि जितना चार कर्मचारी भी नहीं कर सकते। वह स्वभाव से उन मनोविकारग्रस्त व्यक्तियों में से भी नहीं थीं, जिनको धन-संग्रह की सनक होती है और अपने स्वर्ण तथा रत्न-भंडार को दिन पर दिन बढ़ते देख यों ही प्रसन्न हुआ करते हैं।

वह अपने धन का प्रथम उपयोग तो राज्य-व्यवस्था को उत्तम और कार्यक्षम बनाने तथा प्रजा की सुख-सुविधा की वृद्धि करने में करती थी और जो शेष बचता था, उसे परमार्थ और परोपकार के

कार्यों में खर्च कर डालती थी। यदि यह कहा जाए कि जिस हिसाब से अन्य राज्य-कर्मचारियों को वेतन दिया जाता था, उसी हिसाब से वह अपने परिश्रम के बदले जो वेतन पा सकती थी, उससे चौथाई भी वह अपने लिए खर्च नहीं करती थी। जब ईमानदारी और सचाई के साथ पूरा परिश्रम करते हुए उसके साथ त्याग का भाव भी रखा जाए तब वह निःसंदेह महामानवता का लक्षण हो जाता है। यही विशेषता महारानी अहिल्याबाई की कर्तव्यपरायणता में पाई जाती थी, जिसके कारण तत्कालीन हजारों राजा-रानियों में से केवल उसी को श्रद्धा की भावना से अभी तक याद किया जाता है।

नारी जाति की महिमा को बढ़ाने की दृष्टि से महारानी अहिल्याबाई का स्थान अद्वितीय है। भारत ही नहीं संसार भर में नारी का स्थान घर-गृहस्थी तक ही सीमित माना गया है। यद्यपि आज युग बदल रहा है और नारियों को सब प्रकार के राजनैतिक और सामाजिक अधिकार पूर्ण मात्रा में मिल गये हैं, उनमें से कोई-कोई देश के सर्वोच्च पदों पर पहुँच गई हैं, पर अब भी ऐसी नारियों का अभाव ही है कि जिनकी योग्यता प्रशासनिक कार्यों के लिए असंदिग्ध हो। अब भी स्त्रियों को जो उच्च पद दिये जाते हैं, उनमें उनको आगे बढ़ाने के लिए सहायता का भाव मिला रहता है। यद्यपि न्याय की दृष्टि से राजनैतिक और सामाजिक क्षेत्र में प्रत्येक कार्य करने का अवसर देना उचित ही है, पर इस युग में भी अधिकांश पुरुष मन में यही समझते हैं और आपस में कहते भी रहते हैं कि स्त्रियाँ इन कामों को करने के लिए स्वभावतः उपयुक्त नहीं हैं।

ऐसी अवस्था में आज से दो सौ वर्ष पूर्व जबकि स्त्री का कार्य-क्षेत्र निश्चित रूप से घर के भीतर माना जाता था और देश के अधिकांश भागों में पर्दे की प्रथा भी इतनी अधिक प्रचलित थी कि उसने स्त्रियों को प्रायः अकर्मण्य और सांसारिक ज्ञान से अपरिचित बना रखा था। महारानी अहिल्याबाई जैसी कर्मठ और सुयोग्य नारी का आविर्भाव एक प्रकार से आश्चर्यजनक ही था। फिर जन्म से उनको ऐसा कोई साधन प्राप्त न था, जिससे इतनी अधिक प्रगति की आशा की जाती। वे एक बिल्कुल गरीब व्यक्ति की पुत्री थीं, धन,

विद्या, रूप, बल आदि जिन विशेषताओं से मनुष्य प्रायः आगे बढ़ा करते हैं, वे भी इनमें न थे। फिर भी मल्हार राव जैसे दूरदर्शी शासक की दृष्टि अकस्मात् उन पर पड़ गई और उसने उनके आंतरिक गुणों का आभास पाकर अपनी पुत्र-वधू बनाने का निश्चय कर लिया। इससे विदित होता है कि मनुष्य की आत्मिक पवित्रता, सरलता और सत्य की भावना ऐसे गुण हैं, जो अनेक बाह्य विशेषताओं से अधिक प्रभावशाली सिद्ध होते हैं।

यह भी प्रायः देखा जाता है कि जब कोई साधारण स्थिति का मनुष्य संयोगवश ऐसा उच्च स्थान पा जाता है तो वह अपनी पूर्व अवस्था को भूलकर अभिमानी एवं स्वार्थी बन जाता है और अपनी संपत्ति तथा साधनों का स्वयं ही अधिकाधिक उपयोग करना चाहता है। ऐसे व्यक्तियों में से अनेक ऐसा भी सोचने लग जाते हैं कि जब हमारी गरीबी की हालत में किसी ने हमारी सहायता नहीं की तो अब हम क्यों किसी की सहायता करने की फिक्र करें ? ऐसे व्यक्ति निश्चय ही बड़े संकीर्ण और अदूरदर्शी होते हैं। वे इतना नहीं सोच पाते कि ऐसी सौभाग्य की स्थिति को अविचल या अटल समझ लेना बुद्धिमानी नहीं है, न मालूम कब वह बादल की छाया की तरह विलीन हो जाए। इसलिए प्रशंसा और स्वहित की बात यही है कि ऐसा अवसर पाकर उसका सदुपयोग अधिकाधिक परोपकार और दूसरों के साथ भलाई के लिए ही किया जाय, जिससे प्रत्येक परिवर्तित दशा में आत्मसंतोष बना रहे।

महारानी अहिल्याबाई का चरित्र इस दृष्टि से आदर्श था। बिना किसी प्रकार की महत्त्वाकांक्षा और चेष्टा के इतना बड़ा दर्जा पा जाने पर भी उनको अहंकार छू नहीं गया। वे राजमहल में भी वैसी ही निःस्पृह भावना से रहती थीं जैसी कि अपने ग्रामीण कच्चे घर में। उनको जो कुछ धन, मान मिला उसका उपयोग उन्होंने सदैव दूसरों के हितार्थ किया। दीन, दुःखी, विधवाएँ, अनाथ, अकिंचन व्यक्ति उनकी करुणा के मुख्य आधार थे। इस प्रकार उन्होंने धन और सत्ता के सदुपयोग का एक ऐसा महान् आदर्श उपस्थित किया, जिसकी गुणगाथा हमेशा गाई जायेगी। काश, हमारे अन्य राजा, बादशाह, छत्रधारी इस पथ पर चले होते, तो आज यह पृथ्वी क्लेश

और कष्टों के बजाय आनंद और शांति का आगार बनी दिखाई पड़ती।

महारानी अहिल्याबाई की दानशीलता आज तक प्रसिद्ध है और अनेक तीर्थ-क्षेत्रों में उनकी बनवाई धर्मशालाएँ, सदावर्त, घाट आदि उनकी पुण्य-ध्वजा फहरा रहे हैं। कहा जाता है कि राज्य-संचालन से बचे समस्त धन पर अहिल्याबाई उसी समय तुलसी-दल रखकर उसे धर्म-कार्यों में खर्च करने का संकल्प कर लेती थीं, जिससे बाद में कोई उसे अन्य निजी या स्वार्थसिद्धि के कार्यों में लगाने की चेष्टा नहीं कर सकता था। हो सकता है कि आधुनिक शिक्षा से प्रभावित व्यक्ति प्राचीन दान-प्रणाली में किसी तरह का दोष-दर्शन करते हों, पर एक बात तो प्रत्यक्ष है कि इस मार्ग पर चलने से धन का अनावश्यक संग्रह न हो पाता था और धनी तथा निर्धन के बीच असमानता की खाई उतनी गहरी न हो पाती थी जितनी कि आजकल है। वर्तमान समय में एक करोड़पति-अरबपति और दूसरा दस-पाँच रुपये के लिए भी मुहताज—ऐसी घोर असमानता का कारण किसी भी प्रकार प्राप्त धन को अपनी बपौती समझ लेना ही है। महारानी अहिल्याबाई ने अनेक लोकोपकारी कार्यों में धन का सदुपयोग करके उपर्युक्त दोष की जड़ ही काट दी थी।

महारानी अहिल्याबाई के चरित्र से जो मुख्य निष्कर्ष निकलता है, वह यही है कि समाज ने स्त्रियों तथा छोटे वंश के समझे जाने वाले व्यक्तियों की आज तक जो उपेक्षा की है, उसमें परिवर्तन किया जाए। संसार में सबको प्रगति और उन्नति का अवसर मिलना चाहिए और जो कोई सच्चे सद्गुणों का परिचय दे, उसकी उचित कद्र करनी चाहिए। इस तरह का व्यवहार करके हम संसार की और अपनी बड़ी सेवा कर सकते हैं। हमको निश्चित रूप से इस तथ्य को समझ लेना चाहिए कि व्यक्ति और समाज का सबसे बड़ा हित इसी में है कि अधिकाधिक लोगों को सन्मार्ग—परमार्थ-पथ पर चलने की प्रेरणा और अवसर दिया जाय। संसार में सज्जनों, परोपकारियों, सेवा-भाव वालों की संख्या जितनी अधिक बढ़ेगी, उतना ही मानव-जाति का कल्याण होगा और वह देवत्व की ओर अग्रसर हो

सकेगी। महारानी अहिल्याबाई ने हम लोगों—विशेषतया नारी जाति के सम्मुख ऐसा उच्च और साथ ही सरल आदर्श उपस्थित किया है, जिसका अनुसरण करके हम लोग भी महानता का वरण कर सकते हैं।

सब प्रकार अधिकार संपन्न तथा गुणवती होने पर भी महारानी अहिल्याबाई में अभिमान, अहंकार अथवा मद छू तक नहीं गया था। वे आदि से अंत तक अपने आंतरिक जीवन में वैसी ही भोली, सरल और साध्वी बनी रहीं जैसी कि इंदौर आने से पूर्व थीं। गुणों और कर्तव्यनिष्ठा में कितनी शक्ति होती है और उसके आधार पर मनुष्य कहाँ से कहाँ पहुँच सकता है ? महारानी अहिल्याबाई इसकी एक जीती-जागती उदाहरण हैं। धन्य हैं वे गुण और उनको धारण करने वाले वे गुणी, जो इस जीवन में देवत्व पाकर अपर जीवन के मुक्ति के अधिकारी बनते हैं।

www.vicharkrantibooks.org

मुद्रक : युग निर्माण योजना प्रेस, मथुरा